# प्रथम पुरुषार्थ : धर्म
# धर्म–परिभाषा और परिप्रेक्ष्य

**देवर्षि कलानाथ शास्त्री**

**(राष्ट्रपति सम्मानित), प्रधान सम्पादक** ''भारती''संस्कृत मासिक
**पीठाचार्य, भाषामीमांसा एवं शास्त्रशोध पीठ** - विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर
**पूर्व अध्यक्ष** - राजस्थान संस्कृत अकादमी
**आधुनिक संस्कृत पीठ** - जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
**पूर्व निदेशक** - संस्कृत शिक्षा एवं भाषा विभाग, राजस्थान सरकार
**सदस्य** - संस्कृत आयोग, भारत सरकार

मानव जीवन के प्राप्तव्य लक्ष्यों को पुरुषार्थ अर्थात् जीवन का प्रयोजन कह कर हमारी संस्कृति में पारिभाषित किया गया है। विद्वानों का मानना है कि पहले ऐसे तीन लक्ष्य माने गये थे, जिन्हें त्रिवर्ग कहा जाता था। धर्म, अर्थ और काम। फिर मोक्ष को भी जोड़ा गया, और ये चतुर्वर्ग बन गये। इनमें धर्म सर्वप्रथम और प्रमुख है। सदियों से सुन रहे हैं कि भारत धर्मपरायण देश है। हजारों वर्ष पूर्व भी धर्म पर विचार-मंथन और वाद-विवाद होता था, मध्यकाल में भी धर्म के नाम पर लड़ाइयाँ लड़ी गई और इस युग में भी धर्म उतना ही विवाद का विषय है। इस पर जितना कहा जाये, सोचा जाये और लिखा जाये कम है।

एक अध्येता की दृष्टि से देखा जाये तो सबसे बड़ी चुनौती स्वयं यह शब्द ही है। इस शब्द का अर्थ क्या है? भाषा-शास्त्रियों के अनुसार भारत में वेद-काल से ले कर आज तक इसका अर्थ बदलता रहा है। एक दिलचस्प तथ्य यह भी है, कि इस शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि की अष्टाध्यायी में नहीं मिलती। 'धृ' (धारण करना) धातु से उणादि के 'मन्' प्रत्यय द्वारा इसकी व्युत्पत्ति की जाती है। आज हम इसका जो अर्थ समझते हैं, वह अंग्रेजी की देन है। अंग्रेजी की इसलिये कि यह अंग्रेजी के रिलीजन शब्द के पर्याय के रूप में समझा जाता है।

वैसे वर्तमान युग की यह सौगात हिन्दी और भारतीय भाषाओं को मिली है कि उसके अनेक शब्दों का अपना अर्थ नहीं रहा है, अंग्रेजी उन्हें अर्थ दे रही है। एक विद्वान का तो यहाँ तक कहना है कि आजकल की हिन्दी के शब्दों का अर्थ कुछ नहीं है, अर्थ उनके मूल अंग्रेजी शब्दों का होता है, वे तो महज पर्याय हैं। इसमें कुछ सच्चाई भी है। संस्कृति का अर्थ क्या है ? जो कल्चर का अर्थ है, वही संस्कृति का अर्थ है। वास्तव में अर्थ तो एक्ट, आर्डिनेन्स आदि शब्दों के हैं, अधिनियम और अध्यादेश तो उनके पर्याय हैं। यही बात आजकल धर्म के साथ हो रही है।

वेद-काल में धर्म को समाज के कानून या निर्धारित आदेशों के रूप में पारिभाषित किया गया था। 'तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्' आदि में धर्म का यही अर्थ है। जैमिनि ने भी यही कहा है कि जो आदेश समाज को किसी काम के लिये प्रेरित करने को दिये गये हैं, वे धर्म हैं। 'इस आशय को व्यक्त करने वाले अनेक शब्द आज तक प्रचलित हैं - जैसे धर्मपत्नी (विधिपूर्वक परिणीत पत्नी। यहाँ रिलीजन के कार्यों के लिए स्वीकृत पत्नी का तात्पर्य नहीं है), धर्मकाँटा। इस प्रकार तत्कालीन विधि, कानून और सामाजिक नियम धर्म कहलाते थे। जो धारण करता है वह धर्म है यह इसीलिये कहा गया था। पुरानी संस्कृतियों की यह परिणति स्वाभाविक है, कि उनमें धार्मिक परम्पराएँ धीरे-धीरे आकारिक रूप ले लेती हैं, धर्म फोरमल रिलीजन (रीतिबद्ध आकारिक धर्म) बन जाता है। इसी क्रम में तत्कालीन सामाजिक नियम रूढि बनते गये।

वेदोत्तरकालीन धर्म में इसीलिये कर्मकाण्ड का वर्चस्व बढ़ता गया। मूल्यों की दृष्टि ओझल होती गई, दकियानूस रूप उभरता गया। इसके बावजूद उनका आंतरिक मूल्य अधिक महत्वपूर्ण है, यह अहसास महर्षियों और धर्मगुरुओं को बना रहा। तभी तो हमारे बड़े-बड़े महर्षियों (मनु, याज्ञवल्क्य आदि) ने जो धर्मशास्त्र लिखे उनमें धर्म का लक्ष्य बताया अहिंसा, सत्य, अस्तेय, पवित्रता, ब्रह्मचर्य। किसी-किसी ने विद्या, बुद्धि, अक्रोध आदि कुछ मूल्य और जोड़ दिये। इन्हें धर्म की परिभाषा (लक्षण) कहा गया, आधुनिक दार्शनिक भाषा में इन्हें मूल्य भी कहा जा सकता है। इस परिभाषा में यज्ञ करना, दान देना, मन्दिर में घण्टा बजाना, ठाकुर जी की मूर्ति की पूजा करना, इनका तो कहीं नामोनिशान भी नहीं है। फिर इन्हें धर्म क्यों कहा गया? क्योंकि यह धर्म की तीसरी अर्थ-छाया थी, जो उस अर्थ-छाया से अलग थी, जिसमें मानवीय मूल्यों को धर्म कहा गया।

ये मूल्य विश्व के प्रायः सभी धर्मों में समान हैं। ऊपरवर्णित अहिंसा, सत्य आदि ठीक उन्हीं पाँच मूल्यों को जिन्हें महावीर स्वामी ने महाव्रत कह कर अपने धर्म का आधार बनाया था, मनु ने धर्म का लक्षण माना। सत्य और अहिंसा दुनियाँ के सभी धर्मों के मूल हैं पर वे रिलीजन नहीं हैं। हम धर्म को रिलीजन मानते हैं,जो इस शब्द की तीसरी अर्थ-छाया है जो बाद में पनपी है। ज्यों-ज्यों धर्म आकारिक, रीतिबद्ध और नियोजित होता गया उसकी रूढ़ियों में मन्दिर, मठ, सेवा-पूजा, यज्ञ-याग आदि घेरा बनाते गये। भक्तिकाल में भक्ति भी इसमें आ मिली। धर्म शब्द का भी इन्हीं अर्थों में प्रयोग होने लगा। वे अपना धन धर्म में लगाते हैं। 'इसमें धर्म का अर्थ वही आकारिक धर्म या रिलीजन है। वस्तुगत दृष्टि से यह पर्याय उचित नहीं। इस दृष्टि से रिलीजन का पर्याय पंथ उचित लगता है, किन्तु 'गुरु की सेवा शिष्य का धर्म है, सवेरे सवेरे तो धर्म की बात कहो' इन सब में धर्म का अर्थ रिलीजन नहीं हैं, उच्चतर मानवीय मूल्य है। दूसरे शब्दों में एक जगह धर्म मजहब या रिलीजन का पर्याय है-दूसरी जगह ईमान का।

एक अन्य अर्थ भी धर्म का है जो न्याय आदि दर्शनों में आता है (जैसे अग्नि का धर्म उष्णता है)। वह एक दार्शनिक संज्ञा है और इस संदर्भ में उसकी विशेष प्रासंगिकता नहीं है। यहाँ धर्म की परिभाषा के साथ यदि भारत में उसका इतिहास देखें, तो एक बात उभर कर आती है। धर्म की दो परिभाषाओं का द्वन्द्व इस देश में मनीषियों को सदा से चुनौती देता रहा है। वह धर्म जिसका अर्थ सत्य, अहिंसा आदि मानवीय मूल्य हैं, धर्म का सही स्वरूप है या वह आकारिक धर्म जो मन्दिर जाना और यज्ञ कराना सिखाता है? प्रत्येक युग के मनीषियों ने इस पर विचार किया है। इसी की प्रतीक एक कथा महाभारत में आती है, जो तुलाधार की कथा के नाम से प्रसिद्ध है। बड़ी तपस्या करने के बाद महर्षि जाजलि जब यह सुनते हैं कि काशी का एक वैश्य तुलाधार धर्म का अधिकृत विद्वान् माना जाता है, तो उन्हें ईर्ष्या, आश्चर्य और कुंठा होती है। वे काशी जा कर उससे मिलते हैं। वह उन्हें उपदेश देता है। उस युग के लिये यह क्या कम आश्चर्य की बात थी, कि एक वैश्य एक महर्षि को धर्म का उपदेश देता है और महर्षि उसका लोहा मानते हैं?

तुलाधार का उपदेश ठीक इसी दिशा में है, कि क्या आकारिक या ऊपरी धर्म जिसमें पूजा-पाठ, मठ, मन्दिर, यज्ञ याग आदि आते हैं वही धर्म है? यदि चोरी या काले धन से मन्दिर बनवाया जाये या यज्ञ किया जाये तो वह धर्म होगा? ऐसे अनेक क्रान्तिकारी तर्कों के ताने-बाने से तुलाधार मूल्यात्मक और आकारिक धर्म का भेद समझा कर महर्षि की आत्मा को झकझोर देता है। वह स्वयं के उदाहरण से बताता है कि उसके पास सत्यवाणी, निष्कपट व्यवहार, कर्त्तव्यपालन, समाज की निश्छल सेवा ही धर्म है, कर्मकाण्ड, रूढ़ियाँ, पूजा-पाठ इत्यादि नहीं।

महाभारत के शान्तिपर्व के वे तीन-चार अध्याय आज के प्रसंग में और भी अधिक अर्थवत्ता रखते हैं, जो मूल्यगत धर्म और आकारिक धर्म के दो छोरों को स्पष्ट करते हैं। वे बताते हैं कि प्राचीन महर्षियों ने जिस धर्म के दर्शन किये थे, उसमें कारण' (तर्क या युक्तिसंगत होना) मुख्य आधार था। कोई धर्म अकारण नहीं है, यह इस उपदेश का मेरुदण्ड है, जो सामाजिक शुभ और उच्चतर मूल्यों को धर्म का आधार मान कर चला है। उस समय भी यह द्वन्द्व था और मनीषियों को कचोटता था, यह आज पढ़ कर आश्चर्य होता है।

जब से धर्म आकारिक और रीतिबद्ध बना, अनेक रूढ़ियाँ पनपीं। कुछ अच्छी थीं, कुछ बाद में दकियानूसी के कारण बुरी होती चली गईं। कभी-कभी तो पराकाष्ठा यहाँ तक पहुँची, कि कहीं-कहीं आकारिक धर्म की छत के नीचे मानवीय मूल्यों ने दम तोड़ दिया। धर्म का पहला लक्षण सत्य था, किन्तु पुराणों और मिथकों द्वारा बहुधा असत्य का आसरा लेकर धर्म में श्रद्धा पैदा करने का प्रयत्न किया गया। देवताओं और गुरुओं में ऐसी शक्तियाँ और चमत्कार बताये गये जिनका अस्तित्व नहीं था। पूजाओं और व्रतों की फलश्रुतियों में कितना सत्य है और कितनी बातें मिथ्या हैं, इन्हें छान लें, परिणाम स्पष्ट हो जायेगा। दूसरा लक्षण अहिंसा, वेदकाल में ही शिथिल होने लगी थी। पशुबलि के आक्षेप

को 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कहकर मुश्किल से बचा पाये थे हम लोग कि बुद्ध और महावीर ने उस पर भी प्रश्न चिह्न लगा दिये। आज यदि मन्दिरों, धर्म स्थानों और धर्मगुरुओं के अड्डों में भी हिंसा होती है और धर्म के इस लक्षण का कत्ल होता है, तो उसका बीभत्स रूप समझ में आता है। तीसरा लक्षण अस्तेय था। बिना दिये न लेना। धर्म ने दान का महत्त्व बेशक सिखलाया पर आजकल तीर्थों के पण्डे जो जबरदस्ती धर्म के नाम पर लूटपाट करते हैं, वह क्या है? यदि कोई रिश्वत लेने वाला बाबू उसे चोर कहे जाने पर नाराज हो और यह कहे कि मैं तो अस्तेय का पालन करता हूँ, बिना दिये नहीं लेता, तो वह क्या गलत कहता है? अपरिग्रह को धर्म का लक्षण सब ने माना था। पर आज के धर्म-गुरु तो इस तराजू पर तुलते हैं कि किसके पास कितने विमान हैं, कितनी विदेशी मुद्रा है, कितने विदेशी अनुयायी हैं। जब स्वयं तथाकथित धर्मगुरु विमानों से विदेश यात्रा करते हैं और सोने-चांदी के महलों में केसर से नहाते हैं, तो अपरिग्रह कौन करे? जब सारे मूल्य मर रहे हैं और वे भी धर्म के अहाते में, तो पवित्रता, बुद्धि, विद्या आदि भी कब तक जिन्दा बचेंगे?

यह सब इस बात का निदर्शन है कि धर्म शब्द के आशयों में परिवर्तन होता रहा है। वह रूढ़ियों में बार-बार जकड़ता रहा है, किन्तु समय-समय पर तुलाधार, कबीर, दादू, विवेकानन्द, गांधी भी जन्म लेते रहे हैं, जो बार-बार आकारिक या रूढ़िगत धर्म से समाज की दृष्टि थोड़ी ऊपर उठा कर मूल्यगत धर्म की ओर ले जाते रहे हैं। आज भारत इन दोनों दृष्टियों में से किसी को भी छोड़ नहीं सकता। आवश्यकता दोनों के संतुलन की है। आज के सभी धर्मगुरुओं, संस्थानों, विद्वानों, विचारकों और जन-नेताओं के सामने यह सबसे बड़ी चुनौती है। धर्म-निरपेक्षता के उद्देश्य को पूरा करें। धर्म से कतरायें नहीं, बल्कि उसे वह सही जामा पहिना कर देशवासियों को दिखायें, जो उसका असली लिबास है। अन्त में यह उल्लेख करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि सेक्युलर का जो पर्याय 'धर्मनिरपेक्ष' चल रहा था वह भी धर्म को रिलीजन का पर्याय मान कर ही प्रचलित था, किन्तु इसके अनौचित्य की ओर बार-बार विद्वानों ने ध्यान आकृष्ट किया। इस असंगति की ओर भारत सरकार का ध्यान भी गया ऐसा लगता है, जिसके फलस्वरूप विधि मंत्रालय द्वारा हाल ही में प्रकाशित भारतीय संविधान के हिन्दी पाठ में धर्मनिरपेक्ष शब्द नहीं, बल्कि पंथनिरपेक्ष शब्द ही सेक्युलर के लिए प्रयुक्त किया गया है।